International Journal of Education and Science Research Review
E-ISSN 2348-6457
July –August 2017, Volume-4, Issue-4
P-ISSN 2349-1817
www.ijesrr.org
Email- editor@ijesrr.org

हिन्दी कविता और आम आदमी

डा. अनीता यादव
व्याख्याता, हिन्दी
राजकीय महाविद्यालय, बून्दी (राजस्थान)

वैश्वीकरण, पूँजी के आज तक प्रकट हुए सर्वाधिक संकेंद्रित और प्रभुत्वशाली रूप का नाम है। इसने बाजार का एकीकरण करते हुए उसका चौतरफा बोलवाला कर दिया है। आज वैश्वीकरण ने इस संसार के हर कोने में मजबूती के साथ पैर जमा लिये है और उदारीकरण, निजीकरण, बाजारवाद, उपभोक्तावाद, सेज आदि के जरिये इसने जीवन के हर क्षेत्र में घुसपैठ कर ली है। बेरोजगारी बढ़ रही है, अमीरों और गरीबों के बीच खाई दिनों दिन चौड़ी हो रही है। दूर तक कोई विकल्प नहीं दिखाई देता। वैश्वीकरण, निजीकरण, उदारीकरण और विनिवेशीकरण से जन अपेक्षाएं, पूरी नहीं हुई। विषमताएं गहराई है। अतः जन संघर्ष कम नहीं होंगे बल्कि अधिक बढ़ेंगे।

विगत डेढ दशक में संघर्षशील वर्ग के साथ साहित्यकारों का सरोकार कम हुआ है और साहित्य में संघर्षो के बजाय विमर्श को ज्यादा अहमियत मिलने लगी है। विमर्श भी ऐसा ज्यादातर जिसमें मध्यवर्ग ही केन्द्र में है। हिन्दी साहित्य में आम आदमी का जो प्रचलित चेहरा है उसमें आबादी का बड़ा हिस्सा शामिल नजर आता है। मगर यह जो संघर्षशील वर्ग का आदमी है वह ज्यादा कठिन जिन्दगी जीने वाला आम आदमी है। विडम्बना यह है कि भारतीय समाज, राजनीति और साहित्य में इसको वर्ग के बतौर देखने वाले कम है।

हिन्दी साहित्य पर पश्चिमी साहित्य का प्रभाव शुरू से पड़ता रहा है लेकिन डेढ़ दो दशकों से खास तौर पर सोवियत संघ के विघटन के बाद यह प्रक्रिया बहुत तेज हो गयी है। इसी के चलते साहित्य जन साधारण से कटता चला गया। किसान, श्रमिक, दस्तकार आदि के जीवन संघर्ष और संकट के प्रति आज की कविता में उदासीनता की बात सामने आती है। मूल बात यह है कि यदि हमारी कविता साधारण जन की समस्याओं से नहीं जुड़ती और आम आदमी के जीवन संघर्ष से नहीं जूझती तो वे महज हवाई कलावाजी होकर रह जायेगीं। उम्मीद बंधती है कि शायद आने वाले दिनों में हिन्दी कविता एक बार फिर अपनी जमीन पा ले। क्योंकि जहां न पहुंचे रवि वहां पहुंचे कवि। इस संदर्भ में हेतु भारद्वाज की कविता, 'कविता से उम्मीद की कुछ पंक्तियां हैं' –

''कविता की अपनी अलग सत्ता हो , मनुष्य के दुखों को ग्रहण करे वह, जीवन बचा रहे धरती पर , यही उसकी मूल चिन्ता हो, भाषा का इस्तेमाल हो, धारदार औजार की तरह, कारगर हथियार की तरह, कविता की प्रति सत्ता के समक्ष, ध्वस्त हो, यह खतरनाक सत्ता अभी भी समय है, ईमानदारी से हो तोडफोड, विखण्डन सत्ता के इन रूपों का, तभी पता चल सकेगा सच क्या है ? लोग क्यों मरे ? केवल कविता ही कह सकती है – वे भूख से मरे और केवल भूख से, कविता सच को जरूर कहेगी'' (1)।

आज कल हिन्दी में दो विमर्श बहस के केन्द्र में हैं – दलित विमर्श और स्त्री विमर्श। इन विमर्शों ने साहित्य में इतनी जगह घेर रखी है कि ग्रामीण जीवन के अनुभवों और दूसरा है संघर्षों के लिए कोई जगह बचती दिखाई नहीं देती।

यद्यपि इन दोनों विमर्शों की जितनी व्यापक जमीन गांव में मौजूद है उतनी शहर में नहीं। लेकिन जब हवाई विमर्श की चिन्ता ज्यादा हो तो वास्तविक जीवन की जानकारी कम। तब दलित विमर्श और स्त्री विमर्श को गांव तक ले जाने वाले कम ही साहित्यकार मिलते हैं। वैसे भी वैश्वीकरण के सभ्रान्त नागरिक जिस तरह भारत के गांव के लोगों को जड़, दकियानूसी, भाग्यवादी, आलसी और पीछेदेखू मानते है उसी तरह शहरी जीवन के अनुभवों के कथाकार, कवि ग्रामीण जीवन के कवियों को भी समझते हैं। इसका असर गांव की जिन्दगी पर उपन्यास, कहानियां, कविताएं लिखने वाले पर पड़ता है। वे हीनताग्रन्थि के शिकार होते हैं।

हिन्दी पत्र पत्रिकाओं का बाजार साहित्यकारों को लुभा रहा है। साहित्यकारों में खासकर युवा साहित्यकारों में बाजार के प्रति आकर्षित होने की इच्छा निरन्तर बलवती होती जा रही है। जिसका परिणाम हमारे सामने है। युवा कवियों, कथाकारों के पास अब न तो गांव की ओर लौटने का समय है न ही किसान खेत और श्रमिकों की समस्याओं के प्रति ज्यादा गंभीर है। कहानी कविताओं में गांव अब पीछे छूट गए हैं तथा कलावाद, सैक्स च यौन विमर्श जैसे असंगत मुददे उनकी चिन्ता और रचना कर्म का केन्द्र बिन्दु बन गये हैं। मानो हिन्दी कवियों ने एक परिधि के आस पास ही स्वयं को केन्द्रित कर लिया है जहां मानवीय संवेदनायें कोई मायने नहीं रखती वहां सारी चीजे बाजार के मुताबिक तय की जाती है।

जो नुस्खा वाशिगंटन आम राय पर आधारित भूमण्डलीकरण ने पेश किया है। लगता है, सरकार ने भी उसे स्वीकृ ति दे दी। भारतीय कृषि को विश्व बाजार से जोड़ने की मुहिम जोरों पर है। 1990 के दशक में कृषि व्यवसाय से सम्बद्ध बहुराष्ट्रीय कम्पनियों तेजी से भारत आयी। नुस्खे को विश्व खाद्य और कृषि संगठन का समर्थन है। यह नुस्खा है कॉन्टैक्ट फार्मिंग या ठेके पर खेती। जिसके आधार पर कृषि पारिवारिक में होकर पूरी तरह पूंजीवादी हो जायेगी। पैदावार से जुड़े सारे फैसले क्या उगायें, कैसे उगायें, किसके लिए उगायें, कम्पनियाँ करेंगी। दूसरे शब्दों में फसलों के चुनाव, खेती के तौर तरीके निवेश और प्रोद्योगिकी के इस्तेमाल और बाजार के बारे में निर्णय कम्पनियाँ लेगी । साफ है इन निर्णयों का आधार मुनाफा बढ़ाना होगा। मुनाफे को अधिकतम करने के लिए लागत को कम से कम करने का प्रयत्न होगा। इस प्रकार कृषि का उद्देश्य रोजगार के अवसर कतई बढ़ाना नहीं होगा। नतीजतन गांव से बड़ी संख्या में लोग शहरों की ओर रोजी–रोटी की तलाश में भागेंगे।

पिछले डेढ़ दशक से गांव का पलायन जारी है जिसके पीछे अनेक कारण है। गांव के नाई, तेली, कुम्हार, बढ़ई, लुहार, धोबी, गेहूं पीसने, धान कूटने वाले, मवेशी के लिए चारा लाने वाले आदि बेरोजगार है। जुलाहों और धुनियों को काम नहीं मिलता। प्लास्टिक के बर्तनों ने कुम्हारों को बेराजगार कर दिया है। आटा पीसने, धान काटने की मशीने आ गयी है। टैक्टर आने से हल बैल अनुपयोगी हो गये हैं। हल चलाने वाले, बैलों की देखभाल करने वाले तथा खेती के औजार बनाने वाले लुहार बेरोजगार होकर रोजी–रोटी के लिए शहरों की ओर रूख कर रहे हैं। मिलों और कारखानों में लगातार ताला लगते जाने के कारण वहां पहले से ही बेरोजगारी भयंकर रूप ले चुकी है। जिस कारण गांव वालों को पहले की तरह सीजनल रोजगार नहीं मिलते। दो जून रोटी की तलाश में इधर उधर भटकते अन्ततः हताशा और निराशा

के शिकार होते हैं । इसी संदर्भ में ''विनीत तिवारी की कविता ''तिनको की तरह देखी जा सकती है जिसमें उन्होंने ग्रामीणों की दयनीय स्थिति का वर्णन किया है –

''बुआई हम करते थे, निंदाई, गुडाई, दवाई छिडकाव सभी कुछ, छोटे–छोटे पौधे जमीन से बाहर आते, हम उनका आंखें खोलना देखते, उनकी ठंड–गर्मी धूप–छांव पानी की जरूरतें हम समझते थे, कटाई हम करते थे, बिनाई, दाय, खलिहान, थेसिंग, सभी कुछ तौल पर वजन चढ़ता था, हम अनाज उठाते थे। ढ़ेरी से बिखरते दानों को बच्चों सा समेटते, बोरे हम सिलते थे। लदाई भी हम करते थे, फिर कई दिनों तक हम बेवजह औरतों बच्चों पर चिड़चिड़ाते रहते थे। वे भी अनमने से बने रहते थे। लेकिन खेतों से गोदामों में पहुंचते ही, अन्न के दानों की जातिया बन जाती थी, फिर वे दाने माई–बापों की गालियों और अहसानों के साथ, सहमते–सहमते हमारे बच्चों की भूख को कभी–कभार आधा–अधूरा मिटाते थे, दाने हमारे पास ही रहना चाहते थे । दानों को रहने के लिए खेत चाहिए था और खेत बीज की मांग करते थे, हमारे पास न खेत थे न ही बीज, हम फिर नीचे झुक जाते थे और खेत की मिट्टी में आंसू पसीना मिला देते थे'' (2)।

यह मेहनतकश आम आदमी हाड़तोड़ मेहनत करता अपना खून पसीना एक करता और उसका लाभ पूंजी के नियंता और मुट्ठी भर महाजन ले जाते हैं –

''हमारे पसीने और खून से नोटों की फसल उगी, दानों की तरह इसमें भी हमारा हिस्सा, जाहिर है, नहीं था , शहरों में हम खुराक बनें कारखानों की और एक दिन हमने चिमनियों में उसी मकड़े को जाला बुनते देखा, जिसने खेतों में भी दहशत फैलाई थी , फिर हमने देखा खुद को , नोटिस चस्मा कारखाने के दरवाजे पर बेकार खड़े हुए'' (3)।

गांव से शहरों की ओर भागने वालों को वहां संगठित क्षेत्र में रोजगार के अवसर जब नहीं मिलते तब वे लाचार होकर अनौपचारिक (इन्फार्मल) क्षेत्र में लग जाते हैं या मलिन बस्तियों में रहते हैं। इन बस्तियों में बिजली, पानी चिकित्सा सुविधाओं, सफाई, सड़क, शिक्षा आदि की स्थिति बड़ी खराब होती है। बीमारियों और आपराधिक प्रवृत्तियों का जोर होता है । अनाधिकृत बस्तियां होने से सरकार ध्यान नहीं देती और बेदखली की तलवार लटकती रहती है। यह जरूर है कि अनौपचारिक क्षेत्र में श्रम की आपूर्ति तेजी से बढ़ने के कारण, पूंजीपतियों तथा नवोदित मध्य वर्ग को रिक्शा चालक, ड्राईवर, कुली, घरेलू नौकर, नौकरानियॉ, प्लम्बर, राजमिस्त्री आदि सस्ती दरों पर मिल जाते हैं। निजी सुरक्षा एजेन्सियां कम मजदूरी पर गार्ड भर्ती कर दफ्तरों, घरों को देकर ऊँचे पैसे उगाहती है अभी–अभी वर्षो द्वारा प्रकाशित माइक डेविस की पुस्तक पेनेट ऑफ स्लमस में मुम्बई को मलिन बस्तियों की भूमण्डलीय राजधानी कहा गया है। जहां रहने वाले एक करोड बीस लाख में से अधिकतर गांव से रोजी–रोटी की तलाश में आने वाले हैं। रोहित प्रकाश की कविता गांव इसी की ओर संकेत करती है –

शहर में गांव वाले ही ज्यादा थे, ऐसा नहीं था कि, उन्होंने गांवों को, उनकी जगह पर ही छोड़ दिया, वे उन्हें शहर लेकर आये थे, जितना बसों और रेलगाड़ियों में अंट सकता था। भाषा भी लाये थे वे, खरी–खरी जीवित और जीवन्त और पुरानी मकई के कुछ बोरे, ठसक भरी धूप, घनी हरियाली, जलावन की आग, जो ठंड को मजेदार बना देती

है और सरसों के तेल की तीखी गंध, इन दिनों छपरा, मुजपफरपुर , बेगसूराय, समस्तीपुर पर, भारी पड़ रहा है पटना और पटने पर भारी पड़ रही है दिल्ली, शायद गांवों के लुप्त होने की कथा ,यहीं से शुरू होती है और शहरों में छोटे–छोटे गांवों के बनने की भी (4)।

शहर जाकर गांव वालों ने हाड़–तोड़ मेहनत की और अपने पेट की क्षुधा को शांत करने के लिए नाना प्रकार के कार्य किये लेकिन अंततः वह स्वयं में बेकार ही सिद्ध हुए। कचरे के ढेर की तरह और इन्हें कामचोर ही कहा जाता रहा। 'विनीत तिवारी की कविता ''तिनको की तरह'' की कुछ पंक्तियां –

''हमने फावड़े चलाये, ईटे जोड़ी, गिट्टी फोड़ी, ठेला चलाया, खोंमचा लगाया, चाय की टपरी, हम्माली, पुताई सुतारी, कबाड बीनी, और भी न जाने कितने , अपने बस जितने तमाम काम , फिर भी हमें काम चोर ही कहा जाता रहा, हमारी 5 फीट • 6 फीट की खोली को 7 बार तोड़ा गया और हम रोये बिना चुपचाप अपने गीत भूलते रहे, अपनी भाषा, हमारी तांबई रंग गांव से शहर आकर स्लेटी हुआ, हम जो खुरदरे थे और बहुत सख्त, खुद को बहुत मरगिल्ला और पिलपिला होता देखते रहे चौराहों पर ओटलों पर. दारू के ठेकों के आस पास या फिर यूँ ही सड़कों पर, तेज रफतार गाड़ियों और इसकी उसकी गालियों से सुनते बचते, हम शहरों में भीड़ बने, बेकार, कचरे के ढेर की तरह, कभी–कभार जमीन समतल करने के आयें काम, वरना बने रहे सिर्फ हिकारत के हकदार'' (5)।

यह आम जन रोजी–रोटी की तलाश में इधर उधर भटकता रहा लेकिन अपने पेट की भूख को शांत करने में भी सक्षम न हो जैसे विवशता वश कहता है– ''रामाज्ञा शशिधर की कविता ''इतनी दिलकश है तू कि –

''इतनी दिलकश है कि हर चौथे घंटे, तन–बदन में आग लगा जाती है, भूख इतनी तो फरियाद सुनो, जब रोटी की संभावना हो, उस वक्त ही पास आओ, अभी में काम पर जाने वाला हूँ , अगली तन्ख्वाह तक के लिए लौट जाओ'' (6)।

आज किसान बड़ी संख्या में आत्महत्या कर रहे हैं फर्क इतना है कि जहां आजादी की लड़ाई में एकजुट होकर संघर्ष के लिए आगे आये थे वहीं आज घोर हताशा और निराशा के शिकार हो अपनी जान दे रहे हैं। आत्महत्या के कारण बहुत साफ हैं और वह है–सदियों से पीड़ित किसानों को दिखाये गये भड़कीली समृद्धि के सपने। वास्तव में उन्हें कर्ज में फांसने का शिकजा है ताकि उनके पास जो जमीन, बीजों की विरासत, खेती की परम्परागत कुशलता है, उससे भी हाथ घो बैठे। महाजनों की गिरफ्त वाला बाजार इन पर अपने कब्जा जमाना चाहता है। इस तरह से इन सपनों के सौदागरों ने गांव के किसानों के सामने दो ही रास्ते छोड़े है गुलामी या फिर मौत।

'इन्द्रजित भालेराव मराठी से अनुवाद 'अशोक बाबुलकर इसी भाव को व्यक्त करते है – ''कुएं की चट्टान पर, पीटकर माथा, खत्म कर ली तूने एक बार ही जीवन गाथा। प्रधानमंत्री ने कहा – लिये गये ऋण और परिवार का, नियोजन करना नहीं आता, इसलिए किसान खुदकुशी करते हैं। किसाने ने पूछा देश का नियोजन नहीं जमा, इसलिए कितने प्रधानमंत्रियों ने खुदकुशी की है। पहला बोला, हमारे चालीस वर्षों के शासन काल में एक भी किसान ने खुदकुशी नहीं

की, यह पाप आप ही से शुरू हुआ, दूसरा बोला, हमारे शासन काल में शुरूआत हुई , एक–एक की खुदकुशी की, सामूहिक खुदकुशी का पाप तुम कर रहे हो, सच तो यह है कि पहला और दूसरा, दोनों एक ही माला के मणि, दोनों मिलकर रचते हैं, मेरे बाप की हत्या की कहानी (7)।

असलियत यह है कि विकास दर में आयी तेज वृद्धि का लाभ एक वर्ग को निश्चित रूप से मिल रहा है और उसके लिए आमदनी की सीमा नही रह गयी है। वह दिन रात नयी आर्थिक नीतियों की भूमण्डलीकरण की तारीफ करते नहीं थकता। आज भूमण्डलीकरण का गुणगायक जमात काफी बड़ा है पर इसके साथ यह भी तथ्य जुड़ा है कि नयी नीतियों से लोग असहमत भी है। प्रतिरोध भी है। वर्तमान सभ्यता का संकट लगातार गहराता जा रहा है और मनुष्य जीव जन्तु पेड़ पौधों के भविष्य को लेकर चतुर्दिक आशंकायें हैं। पूंजी मनुष्य के हृदय को बिंध रही है तार–तार कर रही है। इसी संदर्भ में आचार्य सारथी' की कविता ''एक पाती विलोचन के नाम की कुछ पंक्तियां –

''सच पूछो तो दुनिया हाट–बाजार हुई है , पूंजी की महिमा जैसे साकार हुई है , संबंधों को सिक्कों से तौला जाता है , सच हकलाता है और झूठ ऊंचा गाता है, वह सब जो था त्याज्य, आज है बंदित–पूजित, दुर्जन करते मौज आज सज्जन अपमानित''(8)।

वैश्वीकरण के इस दौर में आज की कविता में प्रतिरोध का स्वर भी सुनायी दे रहा है। राजेन्द्र गौड़' की कविता एक होना पड़ेगा –

''कब सुहाई है महल बालों को , टूटी–फूटी भी झोपड़ी अपनी और स्वर्ण जड़ित राजमुकुट को नंगा बदन और , खोपड़ी अपनी, उजड़ने वाले हैं, तुम्हारे खेत और खलिहान पेट पर हाथ रखे, देखते रहना आसमान, सोच लो क्या नहीं होगा, फसल उजड़ने के बाद, बच्चों को भूखा सोना पड़ेगा, एक होना पड़ेगा, एक होना पड़ेगा'' (9)।

भूमण्डलीकरण का संभ्रांत नागरिक किस तरह आम आदमी को अपनी गिरफ्त में कस कर उसको विनाश के गर्त में धकेल रहा है–

''खरीदकर चरित्र और चित, रखेंगे साजिश, रोशनी का प्रलोभन देकर, रखेंगे पुआलों में माचिस, उखाड़ेंगे तुम्हारी सभ्यता को, तुम्हारे ही हाथों, घुसेदेंगे लोक धुनों के अपने स्वर सातों, यदि देखना है, लहलहाते, अपनी सभ्यता और संस्कृ ति को तो, जागरण का बीज बोना पड़ेगा, एक होना पड़ेगा'' (09)।

इसी प्रकार 'विपिन बिहारी की कविता जल कर भी न होगे खत्म में प्रतिरोध का स्वर सुनाई देता है –

''तुम्हारे हाथों में, आग के औजार है, तुम जला सकते हो झोपड़ियां, जला सकते हो सपने, जो पलते हैं बड़ी मुश्किल से, तुम्हारे आग के औजार से, सपने ही नहीं, हम भी होते हैं खाक, फिर भी बचती है सांसे, शायद फिर से जलने के लिए, हम सौ बार जल कर भी बच जायेंगे, और खड़े होंगे, एक चुनौती बनकर, तुम्हारे औजार को और उन इमारतों

को, देखेंगे हिकारत भरी नजरों से, जिनके आगे, खड़ी है हमारी झोपड़ियाँ, अगर आग के औजार है, तुम्हारे पास तो खूब खेलो आग से, हम कूदेंगे उस आग में समिधा बन कर, फिर–फिर नहीं जलेंगे हम (10)।

निसंदेह रूप से कहा जा सकता है कि आज देश की आबादी का एक छोटा सा प्रतिशत हर क्षेत्र की जगह का लगभग पूरे का पूरा प्रतिशत घेरे हुए हैं। राजनीति में व्यापार में नौकरियों में उच्च शिक्षा में, चैनलों अखबारों में हर जगह यही छोटा सा प्रतिशत है जो शत प्रतिशत है। इसके विपरीत एक बहुत बड़ा प्रतिशत है जो चिपके पेटों और खाली आंख के साथ मात्र दो जून की रोटी जुटाने के लिए धान रोपता है, फसलों की कटाई करता है, आग उगलते आवे के आस–पास घूमता है, तपती मट्टी के आगे बैठकर लोहा पीटता है, बिना किसी बीमें आदि की सुरक्षा के ईंट–भट्टों के भीतर दहक रहे आग के दरिये पर चलता है उसमें झोंका डालता है। तपते तारकोल की सड़कों पर रिक्शा ठेला खींचता है। अपने बच्चों को पेड़ पर बांधी गयी धोती में डालकर सड़के बनाता है। रोढी कूटता है। ऑफ द रोल जहरीले कैमिकल्स पैदा करने वाली फैक्ट्रियों में काम करता है। जिनके पास इस धरती पर अपना कहने के लिए कुछ भी नहीं है, सिवाये पीले राशन कार्ड की मल्कियत के कहीं नहीं हैं न योजनाओं में न अखबारों में, न चैनलों पर और न ही कहानी कविताओं में, इतना बड़ा आम वर्ग अब तो और भी बाहर कर दिया गया है क्योंकि ग्लोबलाइजेशन के पूंजीवादी खाके में इनके लिए कोई जगह बनायी नहीं गयी है ।

वैश्वीकरण, विदेशी पूंजी के निवेश की ललक, भारतीय खेती पर विदेशी कम्पनियों की ठेका नजर कुल मिलाकर उत्तर आधुनिक समय के जितने भी प्रत्यय नजर में आते है वे चिन्हित वर्ग पर निःसंदेह निकट भविष्य में संकट का वायस बन कर और स्पष्टता के साथ उभर कर आयेंगे। मेरे विचार से हमारे साहित्यकारों को गांव की ओर किसान की तरफ अवश्य मुड़ना चाहिये। केवल सहानुभूति के लिए नहीं बल्कि वास्तविक तौर पर, नव उदारीकरण और शहरीकरण के चलते जिस तेजी से गांव की तस्वीर बदसूरत होती जा रही है उसने ग्रामीणों और किसानों को बेहद उपेक्षित सा बना डाला है। दूसरे बाजार का प्रभाव जिस प्रकार से हम पर निरंतर हावी हो रहा है समय रहते अगर हमने उसके दुष्परिणामों को नहीं पहचाना तो एक दिन शायद अच्छी कहानी, कविताओं का भी अकाल पड़ सकता है। इस दृष्टि से कविता की कमजोर होती बुनियाद को मजबूत बनाने की जिम्मेदारी साहित्यकार की है।

संदर्भ सूची

1 हेतु भारद्वाज, कविता से उम्मीद, पहल 73, पृष्ठ संख्या 117
2 विनीत तिवारी, तिनकों की तरह, हंस अगस्त 2006 पृष्ठ संख्या 139
3 विनीत तिवारी, तिनकों की तरह, हंस अगस्त 2006 पृष्ठ संख्या 140
4 रोहित प्रकाश, गांव हंस अगस्त 2006 पृष्ठ संख्या 162
5 विनीत तिवारी, तिनको की तरह, हंस अगस्त 2006 पृष्ठ संख्या 140

6 रामाज्ञा शशिघर, इतनी दिलकश है तू कि, अगस्त 2006 पृष्ठ संख्या 140
7 इंद्रजित भालेराव, अशोक वाचूलकर, हंस अगस्त 2006, पृष्ठ संख्या162
8 आचार्य सारथी, एक पाती त्रिलोचन के नाम, हंस जनवरी 2008, पृष्ठ संख्या 50
9 राजेन्द्र गौड, एक होना पड़ेगा, अरावली उद्घोष, मार्च 2007, पृष्ठ संख्या 43
10 विपिन बिहारी, जल कर भी न होंगे खाक हम, मार्च 2007, पृष्ठ संख्या, 45